भट्टारक-परम्परा

☐ डॉ० बिहारीलाल जैन
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

भट्टारक-परम्परा दिगम्बर सम्प्रदाय के मूलसंघ, काष्ठसंघ, नन्दिसंघ से सम्बन्धित है। किन्तु भट्टारकीय प्रवृत्तियों पर श्वेताम्बर परम्परा के चैत्यवासी मुनियों के आचरण का भी प्रभाव पड़ा है। अतः भट्टारक-परम्परा का परिचय देने के पूर्व दिगम्बर एवं श्वेताम्बर चैत्यवासी मुनियों की जीवन-चर्या एवं कार्य-कलापों का दिग्दर्शन करना आवश्यक है ताकि भट्टारक-परम्परा की प्रवृत्तियों को भलीभाँति समझा जा सके।

जैनसंघ में चैत्यवासी—दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा में मुनियों के अनेक संघ प्रचलित हुए हैं किन्तु मुख्य रूप से दो प्रकार के मुनि होते थे—चैत्यवासी और वनवासी। जो मुनि समाज के बीच आकर किसी चैत्य में स्थायी रूप से निवास करने लगते थे तथा मन्दिर, मूर्ति, ग्रन्थ आदि की सुरक्षा के कार्य में लग जाते थे, वे चैत्यवासी और जो वन में रहते हुए अपने आत्म-ध्यान में लगे रहते थे, वे वनवासी कहलाते थे। श्वेताम्बर-परम्परा में आज के यति चैत्यवासियों का प्रतिनिधित्व करते हैं और जो संवेगी कहलाते हैं, वे वनवासी शाखा के प्रतिनिधि हैं। दिगम्बर परम्परा में भट्टारक चैत्यवासी परम्परा के प्रतिनिधि हैं और नग्न मुनि वनवासी-परम्परा के हैं।[1]

श्वेताम्बर चैत्यवासी—श्वेताम्बर चैत्यवासी जैन-मुनियों की जीवन-चर्या के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में कुछ उल्लेख मिलते हैं। आचारांग में लज्जा-निवारण के लिए साधुओं को सादे वस्त्र रखने की छूट दी गयी।[2] किन्तु जिन शर्तों के साथ यह छूट दी गयी थी, धीरे-धीरे वे नगण्य हो गईं और विक्रम की छठी शताब्दी तक श्वेताम्बर साधु आवश्यकता पड़ने पर कटिवस्त्र धारण करते रहे। किन्तु इस समय तक इनके आचरण और दिगम्बर साधुओं की चर्या में कोई विशेष अन्तर नहीं था। आगे चलकर वस्त्र-धारण करना आवश्यकता पर निर्भर नहीं रह गया बल्कि यह सामान्य नियम हो गया। इसके साथ ही श्वेताम्बर जैन साधु सामाजिक कार्यों में भी अपनी रुचि दिखाने लगे।

श्वेताम्बर चैत्यवासी मुनियों के इतिहास के सम्बन्ध में जो प्रमाण उपलब्ध हैं[3] उनसे ज्ञात होता है कि वीर निर्वाण संवत् ८८२ (वि० सं० ४१२) से चैत्यवास प्रारम्भ हो चुका था।[4] जिनवल्लभकृत संघपट्ट की भूमिका में कहा गया है कि वीर निर्वाण संवत् ८५० (वि० सं० ३८०) के लगभग कुछ मुनियों ने उग्र विहार छोड़कर मन्दिरों में रहना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे इनकी संख्या बढ़ती गयी। इन चैत्यवासियों ने निगम नाम के कुछ ग्रन्थ भी लिखे जिनमें

---

१. द्रष्टव्य—मुख्त्यार, जुगलकिशोर—वनवासी और चैत्यवासी—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४७८-९५.

२. आचारांग १.६.३;२.१४.१.

३. (क) हरिभद्र—संबोध प्रकरण, अहमदाबाद, वि० सं० १९७२.
   (ख) जिनवल्लभ—संघपट्टक.

४. धर्मसागर की पट्टावली—वीरात् ८८२ चैत्यस्थितिः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह कहा गया है कि मुनियों को चैत्य में रहना उचित है और उन्हें पुस्तकादि के लिए आवश्यक द्रव्य भी संग्रह करना चाहिए।[1] विक्रम संवत् ८०२ में शीलगुणसूरि ने वहाँ के राजा से यह घोषणा भी करवा दी थी कि नगर में चैत्यवासी साधु को छोड़कर वनवासी साधु नहीं आ सकेंगे।[2] इन सब विधानों के कारण ईसा की सातवीं शताब्दी तक राजस्थान में चैत्यवासियों का काफी प्रभाव बढ़ गया था। इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति का विरोध अनेक श्वेताम्बर साधुओं ने किया क्योंकि वे यह मानते थे कि जैन-साधु का कार्य आत्म-ध्यान करना है, सामाजिक सुधार के कार्यों से उसके आचरण में शिथिलता आती है।

प्रसिद्ध दार्शनिक आचार्य हरिभद्र ने संबोध-प्रकरण में श्वेताम्बर चैत्यवासी साधुओं के शिथिलाचार का विस्तार से वर्णन किया और इसे जैन-संघ के लिए अहितकर माना है।[3] इससे प्रतीत होता है कि आठवीं शती तक श्वेताम्बर चैत्यवासी साधुओं का शिथिलाचरण बहुत बढ़ गया था, जिनके विरोध में जिनवल्लभ, जिनदत्त, जिनपति, नेमिचंद भण्डारी आदि जैनाचार्यों ने सशक्त आवाज उठायी थी।[4]

दिगम्बर चैत्यवासी—दिगम्बर परम्परा के मुनि-संघ में चैत्यवासी नाम से मुनियों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु श्वेताम्बर चैत्यवासी मुनियों की जो प्रवृत्तियाँ थीं वैसी ही प्रवृत्तियाँ करने वाले मुनि दिगम्बर सम्प्रदाय में भी रहे होंगे तभी आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर पं० आशाधर तक अनेक दिगम्बर आचार्यों को ऐसे शिथिलाचारी मुनियों के आचरण का विरोध करना पड़ा है। कुन्दकुन्द के लिंगपाहुड से ज्ञात होता है कि कुछ जैन साधु ऐसे थे जो गृहस्थों के विवाह जुटाते थे और कृषिकर्म, वाणिज्यादि रूप हिंसाकर्म करते थे।[5] आचार्य कुन्दकुन्द ने ऐसे साधुओं को पशु समान माना है।[6] संभवतः वे उनकी इतनी तीव्र भर्त्सना करके उन्हें सत्पथ पर लाना चाहते थे। इससे स्पष्ट है कि दूसरी शताब्दी में शिथिलाचारी दिगम्बर जैन साधु भी थे।

देवसेन के दर्शनसार[7] में भी पाँच जैनाभासों की उत्पत्ति का इतिहास दिया गया है। उनमें द्राविड़, काष्ठा और माथुर संघ को जैनाभास कहा गया है। उसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि इन संघों के साधु वनवासी साधुओं से संभवतः भिन्न आचरण करने लग गये थे। आगे चलकर यह बात ऐतिहासिक प्रमाणों से भी सिद्ध होती है। शक संवत् १०४७ के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि द्राविड़ संघीय श्रीपालयोगीश्वर को सल्ल नामक ग्राम दान में दिया गया था।[8] विक्रम संवत् ११४५ के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि काष्ठासंघ के विजयकीर्ति मुनि के उपदेश से राजा विक्रमसिंह ने मुनियों को जमीन एवं बगीचे आदि में दान दिये।[9] इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि दिगम्बर जैन-संघ के मुनि भी वसति अथवा जैन मन्दिरों में रहते थे और उनको दान में जमीन आदि दी जाती थी।

उपर्युक्त शिथिलाचरण वाले दिगम्बर मुनियों को चैत्यवासी, मठपति या भट्टारक क्यों कहा जाता था, यह स्पष्ट नहीं है। क्योंकि ऐसे मुनियों का उल्लेख मुनि और भट्टारक दोनों विशेषणों के साथ हुआ है। ऐसे दिगम्बर साधु शिथलाचारी होने पर भी नग्न रहते थे तथा इनके धार्मिक कार्यों में कोई विशेष मतभेद नहीं था। किन्तु ऐसे मुनियों का आचरण विशुद्ध दिगम्बर जैन-मुनियों तथा आचार्यों के लिए चिन्ता का विषय अवश्य था। यही कारण

---

१. द्रष्टव्य—जिनवल्लभकृत संघपट्टक की भूमिका
२. वही
३. बाला वयंति एवं वेसो तित्थंकराण एसो वि।
णमणिज्जो घिट्टी अहो सिरसूलं कस्स पुकरिमो ॥ ७६ ॥
—हरिभद्रसूरि, संबोध प्रकरण
४ द्रष्टव्य—नाहटा, अगरचंद—यतिसमाज—अनेकांत, वर्ष ३, अंक ८-९
५. जो जोडेदि विवाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च—लिंगपाहुड, गाथा ९
६. वही, गाथा—१२
७. द्रष्टव्य—दर्शसार, गाथा २४ से ४६ तक
८. द्रष्टव्य—जैन शिलालेख संग्रह, शिलालेख नं० ४९३
९. द्रष्टव्य—एपिग्राफिका इण्डिया, जिल्द २, पृ० ३३७–४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि आचार्य सोमदेव ने इन मुनियों को विशुद्ध मुनियों की छाया कहा है।[1] आगे चलकर बारहवीं शताब्दी में पं० आशाधर को शिथिलाचारी मुनियों की संख्या में वृद्धि के कारण यह कहना पड़ा कि खेद है कि सच्चे उपदेशक मुनि जुगनू के समान कहीं-कहीं ही दिखाई पड़ते हैं।[2]

इस प्रकार जैन संघ की प्राचीन परम्परा में मुनियों का एक वर्ग ऐसा था जिसने समय के प्रभाव से जैनमुनि आचार-संहिता में संशोधन कर समाज को अपने साथ करने का प्रयत्न किया था, क्योंकि धार्मिकों के बिना धर्म नहीं होता। अतः धार्मिकों को बनाये रखने के लिए पूजा-विधान, मन्दिर, मूर्ति, तीर्थयात्रा आदि कार्यों में भी इन मुनियों को सम्मिलित होना पड़ा। साथ ही श्रावकों में लिए उन्हें ऐसे साहित्य का भी सृजन करना पड़ा जो जैन धर्म के अनुरूप जीवन-चर्या का विधान कर सके। यही कारण है कि लगभग आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक अनेक श्रावकाचार ग्रन्थों का प्रणयन हुआ।[3] इन सब तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भट्टारक-परम्परा प्रारम्भ होने के पूर्व भी जैनसंघ में निम्न प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं —

१. मुनियों का चैत्यों, वसति अथवा मन्दिरों में निवास करना।
२. श्रावकों के धार्मिक कार्यों में मुनियों द्वारा सहयोग।
३. तीर्थयात्राओं का आयोजन करना।
४. मन्दिरों का जीर्णोद्धार करना एवं भूमि आदि का दान ग्रहण करना।
५. विशेष परिस्थितियों में मुनियों द्वारा वस्त्र-धारण करना।
६. साहित्य-निर्माण के साथ-साथ प्राचीन ग्रन्थों का संरक्षण करना।

ये विशेष प्रवृत्तियाँ ही आगे चलकर भट्टारक-परम्परा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ बनीं। इसी पृष्ठभूमि के आधार पर भट्टारक-परम्परा कब से और कैसे विकसित हुई उसका विवेचन किया जा रहा है।

जैनसंघ और भट्टारक—भट्टारक-परम्परा की प्रवृत्तियाँ जैन मुनि-संघ की प्रवृत्तियों के अनुरूप हैं ईसा की दूसरी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक जैन-मुनियों के आचरण, साहित्य-साधना एवं सामाजिक कार्य आदि प्रवृत्तियाँ भट्टारकों की प्रवृत्तियों में सम्मिलित हुईं। अतः मुनि, साधु और भट्टारक—ये शब्द अधिक भिन्नार्थक नहीं हैं। यद्यपि मुनि और साधु शब्द से धर्माचरण में लीन एवं आत्म-कल्याण करने वाले व्यक्ति का ही बोध होता है जबकि भट्टारक शब्द 'स्वामी' शब्द का वाचक है।

भट्टारक शब्द मुनियों के लिए कब से और किस रूप में प्रयुक्त हुआ यह कहना कठिन है, क्योंकि जैन मुनि-संघ का कोई व्यवस्थित इतिहास नहीं मिलता। दूसरी बात यह है कि भट्टारक शब्द का अर्थ भी क्रमशः परिवर्तित होता रहा है। अतः इस शब्द के अर्थ परिवर्तन को ध्यान से देखना होगा। संस्कृत व्युत्पत्ति के आधार पर 'भट्टारक' शब्द भट्ट+ऋ+अण्+कन् से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ पूज्य, मान्य, आचार्य, प्रभु या स्वामी होता है। जैन मुनियों के साथ यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है।

भट्टारक शब्द का प्रयोग जैन-आगमों में आवश्यकसूत्र ३ में हुआ है।[4] वहाँ भट्टारक या भट्टारय का अर्थ पूज्य से ही सम्बन्धित है। संस्कृत नाटकों में भट्टारक शब्द स्वामी का वाचक बन गया था।[5] राजा के लिए भी

---

१. यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम्।
तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः सम्प्रति संयताः॥ उपासकाध्ययन, श्लोक ७९७, पृ० ३००,
२. खद्योतवत् सुदेष्टारो हा द्योन्ते क्वचित् क्वचित्। —सागारधर्मामृत, श्लोक ७, पृ० ११.
३. द्रष्टव्य—शास्त्री, हीरालाल—वसुनंदि श्रावकाचार की भूमिका, पृ० २१.
४. द्रष्टव्य—पाइअसद्दमहण्णवो, ग्रन्थांक ७, पृ० ६४२ — प्राकृत ग्रन्थपरिषद्, वाराणसी—५, १९६३.
५. 'भट्टारक इतोऽर्धं युष्माकं सुमनो मूल्यं भवतु।' —अभिज्ञानशाकुन्तल, इलाहाबाद, १९६६, पृ० ३४२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका प्रयोग हुआ है ।[1] अपभ्रंश काव्यों में स्वयंभू के पउमचरिउ में सागरबुद्धि भट्टारक का उल्लेख है, जिससे विभीषण रावण के राज्य का भविष्यफल पूछता है ।[2] इससे प्रतीत होता है कि ईसा की आठवीं शताब्दी में जैनमुनि 'भट्टारक' शब्द से सम्बोधित होते थे तथा भविष्यफल जैसे लौकिक कार्यों में भी प्रवृत्त होते थे । अपभ्रंश के अन्य काव्यों में भी 'भडारय' शब्द प्रयुक्त हुआ है ।[3]

इन साहित्यिक उल्लेखों के अतिरिक्त भट्टारक शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक उल्लेख भी प्राप्त होते हैं, जिनमें ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ, अभिलेख एवं पट्टावलियाँ प्रमुख हैं । ग्रन्थों की प्रशस्तियों में षट्खण्डागमटीका धवला (वि०सं० ८३८) में वीरसेन के साथ भट्टारक विशेषण का प्रयोग हुआ है । इसमें कहा गया है कि सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण आदि शास्त्रों में निपुण वीरसेन भट्टारक के द्वारा यह टीका से लिखी गयी है ।[4] कषायपाहुड टीका जयधवला (वि०सं० ८४०) में जिनसेन के द्वारा वीरसेन को भट्टारक कहा गया है जो विश्वदर्शी तथा साक्षात् केवली थे ।[5] उत्तरपुराण की प्रशस्ति (वि०सं० ९५५) में भी वीरसेन को भट्टारक कहा गया है ।[6]

इन ग्रन्थ-प्रशस्तियों के अतिरिक्त पट्टावलियों में भी भट्टारक शब्द के अनेक सन्दर्भ मिलते हैं । नागपुर की पट्टावलियों में सोमसेन भट्टारक, वीरसेन भट्टारक, माणिक्यसेन भट्टारक आदि अनेक नाम मिलते हैं ।[7] शिलालेखों में भी मुनियों के साथ भट्टारक शब्द का प्रयोग हुआ है । हिरेआवली शिलालेखों में जो वि० सं० ११८१ का है, पोडगरिगच्छ के माधवसेन का उल्लेख है ।[8] इस प्रकार जैनमुनियों के साथ भट्टारक शब्द प्राचीन समय से ही प्रयुक्त होता रहा है । उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि भट्टारक विशेषण ज्ञान, चारित्र एवं साहित्य-साधना में विशिष्ट स्थान रखने वाले मुनियों के लिए प्रयुक्त हुआ है । संभवतः इन मुनियों का स्वामित्व, पाण्डित्य, ज्ञान एवं चारित्र उत्कृष्ट होने से ही इन्हें भट्टारक कहा गया है। आगे चलकर यह भट्टारक शब्द भौतिक वस्तुओं एवं पद के स्वामित्व का भी द्योतक बन गया होगा ।

डॉ० जोहरापुरकर ने 'भट्टारक संप्रदाय' नामक पुस्तक में भट्टारक संप्रदाय के जिन गणों और गच्छों का परिचय दिया है तथा उनसे सम्बन्धित प्राचीन लेखों, प्रशस्तियों का संकलित किया है, उनमें भट्टारक शब्द आठवीं से दशवीं शताब्दी तक के साक्ष्यों में बहुत कम प्रयुक्त हुआ है । किन्तु तेरहवीं शताब्दी के बाद भट्टारक शब्द प्रायः सभी पट्टधरों के साथ प्रयुक्त मिलता है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टारक शब्द किसी संप्रदाय या परम्परा का द्योतक नहीं था, केवल सम्बोधन अथवा पूज्य के अर्थ में मुनियों के साथ उसका प्रयोग होता था । जब अनेक गणों के मुनियों की कार्य-प्रणाली एक सी हो गयी और उनके गुरु भट्टारक के नाम से प्रसिद्ध थे तो बाद के शिष्य

---

१. स्वस्ति समस्तभुवनाश्रयश्रीपृथ्वीवल्लभमहाराजाधिराजपरमेश्वरभट्टारक…………… । जोहरापुरकर, विद्याधर भट्टारक संप्रदाय, ले० ८९.

२. पभणइ सायरबुद्धि भट्टारउ । कुसुमाउह—सर-पसर-णिवारउ ॥—पउमचरिउ, २१ संधि, १.

३. द्रष्टव्य—भविसयत्तकहा आदि ।

४. सिद्धंत छंद जोइस वायरण पमाण सत्थ णिवुणेण ।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥ —धवलाप्रशस्ति, पृ० ३६.

५. श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः ।
पारदृश्वादिविश्वानां साक्षादिव स केवली ॥ —जयधवलाटीका, भाग १, प्रस्तावना, पृ० ६९.

६. आचार्य, गुणभद्र, उत्तरपुराण, ग्रन्थप्रशस्ति, २-४, पृ० ५७३.

७. द्रष्टव्य—जोहरापुरकर, भट्टारक संप्रदाय, लेख ३७, ३८, ४०, पृ० १३-१४

८. स्वस्ति श्रीमतु……श्रीमन्मूलसंघद सेनगणद पोगरिगच्छद चन्द्रप्रभसिद्धांतदेवशिष्य……माधवसेन भट्टारकदेवरु ।
—जोहरापुरकर, भट्टारक संप्रदाय, पृ० ७ पर उद्धृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी भट्टारक कहे जाने लगे। तेरहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक भट्टारक शब्द एक गणविशेष और प्रवृत्तिविशेष का द्योतक हो गया।

वस्त्र-धारण का औचित्य—श्वेताम्बर परम्परा के चैत्यवासी और बनवासी मुनि तो वस्त्र-धारण करते ही थे। समय के प्रभाव से दिगम्बर परम्परा के चैत्यवासी मुनियों में भी वस्त्र-धारण का विधान कर दिया गया था। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के श्रुतसागरसूरि ने लिखा है कि कलिकाल में म्लेच्छादि यतियों को नग्न देखकर उपद्रव करते हैं, इस कारण मण्डपदुर्ग में श्रीवसंतकीर्ति ने वस्त्र-धारण करने का अपवाद रूप में विधान किया था।[1] यह वसंतकीर्नि विक्रम संवत् १२६४ के लगभग हुए हैं। इस समय तक समाज में मुसलमानों का आतंक भी बढ़ रहा था। अतः स्वाभाविक है कि दिगम्बर साधु तेरहवीं शताब्दी में बाहर निकलते समय लज्जा-निवारण के लिए वस्त्र-धारण करणे लगे।[2]

वस्तुतः भट्टारक समाज में आदर्श मुनि के रूप में मान्य थे। किन्तु कालान्तर में भट्टारक-पीठ भौतिक सामग्रियों से सम्पन्न हो गये और पीठाधीश भट्टारक स्वच्छन्द प्रवृत्तियों में आसक्त हो गये। फलतः भट्टारकों का प्रभाव क्षीण हो गया। अधुना अनेक भट्टारक पीठ हैं परन्तु उनका दिगम्बर समाज में विशेष महत्त्व नहीं है।

□□□□

---

१. कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वोपद्रवं कुर्वन्ति तेन मण्डपदुर्गे श्रीवसंतकीर्तिना स्वामिनाचर्यादिवेलादां तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुच्यन्तीत्युपदेशः कृतः संयमिनां इत्यपवादवेषः।

—षट्प्राभृतटीका, पृ० २१

२. द्रष्टव्य—प्रेमी, नाथूराम—जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ४९०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org